

जोधपुर में राज़ी

रामबक्ष जाट

पूर्व प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
दिल्ली

rambux.jnu@gmail.com

आज बरसों बाद हम दोनों पति पत्नी एक साथ फ़िल्म देखने के लिए राजी हुए। खुद टिकट खरीदा तो पता चला कि सिनेमाघरों में बालकनी और बॉक्स गायब हो गए हैं। उनके स्थान पर प्लेटिनम और महाराजा जैसे नए मेहमान प्रकट हो चुके हैं। यही नाम आपके शहर में भी हो, यह कोई आवश्यक नहीं है। इसलिये अब यह आकांक्षा रहती है कि कोई टिकट खरीदकर हॉल में बिठा दे। बीच में चाय पानी भी वही पिला दे। इसलिए या तो मैं मुम्बई में फ़िल्म देखता हूँ या वाशिंगटन डी सी में। दिल्ली में फ़िल्म देखना बहुत झंझट का काम लगता है। यात्रा में बाल कटाना पसन्द करता हूँ। फ़िल्म दिखाने वाला हो तो उसे भी यात्रा में ही निपटाना अच्छा लगता है।

ऐसी मानसिकता का व्यक्ति फ़िल्म देखने गया है तो कोई खास बात तो होगी। और खास बात भवानी अय्यर है जो इस फ़िल्म की पटकथा लेखिका है, जिसे मेरी बेटी ने मिलवाया था। फिर उनकी कई फ़िल्में देख चुका हूँ। अब कई दिनों बाद उनकी फ़िल्म आई है। तो देखना तो है ही। फ़िल्म में एक परिचित चेहरा शिशिर शर्मा का भी दिखा। पूरी फ़िल्म में दिखा। पूरे रौब दाब के साथ।

फ़िल्म की बहुत चर्चा हुई है; निर्देशन की, आलिया भट्ट के अभिनय की, देशप्रेम की, जासूसी की बारीकियों की। उन्हें फिर से कहने का कोई मतलब नहीं। सिर्फ एक बिंदु पर मुझे अपनी बात कहनी है।

दरअसल इस फ़िल्म के तर्क और कथ्य में तनाव है। फ़िल्म का यथार्थ और घटनाएं उसके तर्क हैं। उन तर्कों के माध्यम से फ़िल्म जो कहती है, वह उन तर्कों से अलग है। नायिका जो काम करती है, पूरे मन और जिम्मेदारी से करती है। ठीक करती है, परंतु उनकी निरर्थकता, अमानवीयता और उनके गलत होने के एहसास से पीड़ित है। इसी कारण वह चुपके चुपके रो लेती है। यहां तक कि वह चुप हो जाती है। और यही इस फ़िल्म की जान है, जिस पर पर्दा डालने की कोशिश फ़िल्म में कई बार की गई है। यहां तक कि अन्त में

कुछ लिखा हुआ भी आता है। मूल अर्थ से दर्शक को भटकाने का यह प्रयास भी बहुत खूबसूरत है। भले ही इस छद्म के आवरण से फ़िल्म को अच्छी कमाई मिल रही है।

कई बार कलाकार स्वयं यह नहीं चाहता कि लोग उसे ठीक से समझ लें। न समझने में भी उसे आनंद आता है। जो भी है भवानी को इस कसी हुई पटकथा के लिए बधाई। बिचारी आलिया भट्ट तीन घंटे तक इस तनाव में खड़ी रही कि वह कभी भी पकड़ी जा सकती है।

राज़ी से पहले फिल्में, जोधपुर और 1970

क्या आप कोई फ़िल्म बता सकते हो जो 1970 में जोधपुर में लगी हो और मैंने न देखी हो। यदि बता सको तो आपको एक फ़िल्म के दो टिकट इनाम में।

मैंने अपने जीवन में पहली फ़िल्म 1967 या 68 में मिलन देखी थी- नूतन और--सुनील दत्त की। 'पवन करे शोर... सोर नहीं बाबा शोर' वाली, याद है न ? जनवरी 1969 में मैं 10वीं की परीक्षा देने आया था। उस समय हमारे गाँव चिताणी में इस धारणा का शासन था कि जो बच्चे शहर जाते हैं, वे फ़िल्म देखकर बिगड़ जाते हैं। परिणाम यह होता है कि वे फेल हो जाते हैं। इसलिए मैंने यह कसम खाई कि फिल्में नहीं देखनी। मेरे साथ गांव के आसपास के चार और छात्र आये थे। वे फ़िल्म देखते थे। मैं नहीं देखता था। परिणाम यह हुआ कि वे चारों 10वीं में फेल हो गए और मैं प्रथम श्रेणी में पास।

अब जब 11वीं में आया तो मैंने अपने आपको फ़िल्म दिखाई। फिर? फिर क्या था? ब्रह्मचर्य टूट गया। फिर फिल्में ही फिल्में। साल भर तक जोधपुर में लगी हुई सभी फिल्में देख ली। उस समय सबसे घटिया सिनेमाहाल चारभुजा था। सबसे दूर चित्रा था। दोनों किसी अज्ञात बीमारी से बंद हो गए। एक मिनर्वा और ओलंपिक भी थे। मिनर्वा में सबसे सस्ता टिकट 50 पैसे का मिलता था। दूसरी जगहों पर 75 पैसे। शुरू में देखा पर गर्दन दुख जाती थी। अतः थोड़ा पीछे की सीट वाली टिकट लेने लगे। हाँ बालकनी और बॉक्स की टिकटें स्वप्न ही होती। बॉक्स में तो महिला मित्र वाले लोग ही जाते। जोधपुर में मैंने शायद किसी महिला के साथ फ़िल्म नहीं देखी। उह शुभकार्य दिल्ली में आकर किया। अंग्रेजी फिल्में भी दिल्ली में ही देखी। फ़िल्म के चार शो होते। सुबह 9 बजे कोई अंग्रेजी फ़िल्म लगती थी, जिसे मैंने नहीं देखा। हमारे आरंभिक नायक नायिका दारा सिंह और मुमताज थे। इनकी खूब फिल्में देखी। फिर इनसे मन भर गया। तब जितेंद्र, धर्मेन्द्र, आदि रोमांटिक नायकों का आगमन हुआ। नायिकाएं बदलती रही, परंतु मुमताज हटी नहीं। इस वर्ष में एक दिन में चारों शो देखने का रिकार्ड भी कई बार बनाया। मीना कुमारी और साधना की फिल्में भी खूब देखी। साधना का पलकें झपकाना मुग्ध कर देता था। मेरी बेटी आज भी साधना को लेकर मजाक करती है। उस समय किसी निर्देशक को हम नहीं जानते थे। मीना कुमारी की पाकीजा लगी थी। ओलंपिक में सिनेमा में। मैं गया था। हाल लगभग खाली था। इसके 5--7 दिन बाद मीना कुमारी की मौत की खबर आई और ओलंपिक सिनेमा दर्शकों से भर गया। उस समय के शहर के छोटे मोटे गुंडे टिकट की कालाबाजारी करते थे। वे अंदर से टिकट खरीद लेते और फिर मायूस दर्शकों को बेचते। किसी सुनहरी शाम में ये गुंडे गायब हो

गए और उसी के साथ सिनेमा हॉल की रौनक भी गायब। इसके कुछ दिनों बाद ये हाल भी बंद होने लगे। इस युग में सीडी और कम्प्यूटर का उदय नहीं हुआ था। इस नई तकनीक के साथ पूरी की पाइरेटेड सीडी बाजार में छा गयी। यह शुभ कार्य भी उन्हीं टिकट बेचने वाले गुंडों ने ही किया होगा। अब टिकट क्या बेचना! पूरी फिल्म ही बेच देते हैं। हमें तो पता नहीं चला, परंतु काला ने सफेद को बाजार से लगभग बाहर कर दिया। निर्माता निर्देशक रोने लगे।

दर्शक एक तो आलसी, मेरे जैसे। फिर आधा घंटा तक धूप में खड़े रहो, ताकि हाल का दरवाजा खुले। न्यू कोहिनूर में कल भी हम भवानी के नाम पर धूप में खड़े रहे। परंतु बाजार ने भी दिमाग लगाया। माल संस्कृति के नाम पर फिर दर्शक सिनेमाघरों में आने लगे। वहां बाजार लगा हुआ है। आप कभी भी आओ। फ़िल्म से पहले चाय कॉफी आइस क्रीम खाओ। कपड़े खरीद लो। ऐसी की हवामें बैठो। जोधपुर के पुराने सिनेमाघरों में आज भी यह सुविधा नहीं है। इस कारण 90 रुपये में फ़िल्म देखो। फिर भी हॉल खाली। निर्माताओं ने कुछ नई चालें चली। बाद में अभिरुचि में परिवर्तन हुआ। कई नायिकाओं के बदलते बदलते अंतिम नायिका माधुरी दीक्षित रही।

अब बेटी अभिनय और नाटक की दुनिया में है इस कारण या केशव केसन के कारण हो आलिया भट्ट जैसी अभिनेत्रियां अब बेटी जैसी लगाने लगी है।